स्थानीय कवि

प्रफुल्ल कोलख्यान

साहित्य का अपने भूगोल से कैसा संबंध होता है-- भूगोल से अर्थात स्थानिकता से। किसी कवि को स्थानीय कहने से उसे असीम दुख होता है। यह दुख क्यों होता है? इस दुख को कैसे समझा जा सकता है? साहित्य के किसी आयोजन में किसी कहानीकार, उपन्यासकार, आलोचक आदि का उल्लेख शायद ही कभी 'स्थानीय कहानीकार', 'स्थानीय उपन्यासकार', 'स्थानीय आलोचक' आदि के रूप में किया जाता हो। समाजशास्त्री, इतिहासकार, वैज्ञानिक का भी उल्लेख 'स्थानीय' विशेषण के साथ कभी नहीं होता है! हिंदी का यह 'स्थानीय' विशेषण सिर्फ कवियों के साथ लगता है और धड़ल्ले के साथ लगता है। और जिन कवियों के साथ लगता है, वे अपने को दोयम नहीं भी तो बेचारा जरूर मानते हैं। एक बात और, इस विशेषण का कवियों के साथ होनेवाला प्रयोग अचेतन रूप से ही होता है। ध्यान दिलाये जाने पर ऐसा प्रयोग करनेवाले सामयिक रूप से एक प्रकार की भद्र ग्लानि में पड़ जाते हैं। लेकिन यह 'भद्र ग्लानि' सामयिक ही होती है। अवसर के बीतते ही इस ग्लानि का कोई नामोनिशान नहीं बचता है— न 'स्थानीय कवि' के मन में, न आयोजक के मन में ।

कविता तो अपने प्रारंभ से ही 'विश्व-नीड़' बनाने का सपना देखती रही है— कवि अपने विश्व नागरिक होने की कामना करता रहा है। आज का समय हर अच्छी-बुरी चीज के वैश्वीकरण का समय है। दुनिया दखल करने की, दुनिया मुट्ठी में करने की होड़ लगी हुई है। स्थानीयता को उस सम्मान की नजर से कोई नहीं देखता है। स्वाभाविक है कि 'स्थानीय' विशेषण कवि को पीड़ा पहुँचाती है और जिनके साथ यह विशेषण नहीं लगता है, उन्हें झूठा-सच्चा संतोष होता है। कोई 'बड़ा कवि' अपने जन्म, कर्म और जीवन-स्थान पर भी स्थानीय नहीं होता है। स्थानीय होने का अर्थ है अपने स्थान की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं संभव हो तो राजनीतिक, आर्थिक प्रक्रियाओं की कतिपय विशिष्टताओं से न सिर्फ प्रभावित होना बल्कि उसे अतिरिक्तत: प्रभावित भी करना। आज के समय में शायद ही ऐसा कोई कोई कवि मिले

जो इस तरह देखने पर स्थानीय ठहरता हो। मुश्किल यह है कि आज कवि सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक, आर्थिक प्रक्रियाओं की कतिपय विशिष्टताओं की तो बात एक तरफ भाषिक विशिष्टताओं को भी प्रभावित करने की स्थिति में नहीं रह गया है। भाषिक विशिष्टताओं को प्रभावित करनेवाले इतने संपन्न और शक्तिशाली माध्यम सक्रिय हैं कि कविता तो बेचारी ताकती ही रह जाती है। कवियों की सामाजिक भूमिका अपने प्रभाव के शून्यांक से आगे बढ़ पाने की स्थिति नहीं बना पा रही है। वैसे तो समझदार लोग यही मानते रहे हैं कि कविता में स्वतंत्र रूप से कोई आंदोलन कभी संभव नहीं होता है, बल्कि कविता के बाहर चल रहे आंदोलनों, खासकर राजनीतिक आंदोलनों की छायाओं को ही आयातित कर कविता उसे अपना आंदोलन बनाती और बताती रही है। आज के समय में दृश्यों की तो कोई कमी नहीं है लेकिन दर्शन का अकाल जरूर है। 'नाम बड़े और दर्शन छोटे' जैसी उक्तियाँ ऐसी ही स्थिति के लिए बनी होती हैं! दर्शन का अभाव दृष्टि और दीठि के अभाव को भी सूचित करता है। क्या इस स्थिति से बचा नहीं जा सकता है? हमारे समय की राजनीतिक और सामाजिक हलचलों की कुछ छायाएँ— जिन्हें हम सम्मानपूर्वक 'विमर्श' कहते हैं— साहित्य की काव्येतर विधाओं में, खासकर आलोचना, कहानी और उपन्यास में, तो मिल जाती हैं लेकिन कविता में! आत्म संतोष के लिए कहा जा सकता है कि कविता तो प्रकाशपुंज है। प्रकाश की छाया ढूढ़नेवाले प्रकाश की प्रवृत्ति और शक्ति से नावाकिफ हैं। हिंदी में तो 'छायावाद' एक काव्य युग ही हो गया है। इस युग को आधुनिक हिंदी साहित्य का स्वर्ण-युग भी बताया जाता रहा है। सोने की थाली में परोसने की सहूलियत भले ही हो, पकाने की सुविधा तो बिल्कुल नहीं होती है।

बांग्ला के ऐसे किसी 'बड़े कवि' को जिसकी 'जन्म भूमि', 'पितृ भूमि', 'कर्म भूमि', 'निवास भूमि', 'पूण्य भूमि', 'कल्प भूमि' और 'काव्य भूमि' अर्थात 'सर्व भूमि' कोलकाता हो तो भी उसे कोलकाता के किसी काव्य-आयोजन में 'स्थानीय कवि' नहीं कहा जा सकता है। स्थानीय कहा जाता है उन 'छोटे कवियों' को जो समाज में 'बाहरी होने' अर्थात, स्थानीय नहीं होने की पीड़ा भोगता रहता है। यह विडंबना ही है कि जिसे समाज स्थानीय नहीं मानता उसे साहित्य का आयोजक और प्रायोजक 'स्थानीय' कहता है!

सच्ची बात तो यह है कि 'स्थानीय कवि' को कवि नहीं माना जाता है, वह सामान्य श्रोता और कवि के बीच की खाली पड़ी हुई जमीन पर कहीं खड़ा होता है। सामान्य श्रोताओं से थोड़ी-सी उन्नत किस्म का श्रोता होता है। इनकी स्थिति बड़ी-बड़ी अटारियों के नातिदूर बसनेवाली अवैध झुग्गी झोपड़ियों की तरह होती है। बीच-बीच में इन झुग्गियों को उजाड़ने का हल्ला मचता रहता है। कभी वैध बनाने और सभ्यता में शामिल करने की भी मुहिम चलती रहती है। कारण वोट बैंक— हे भगवान, जो न करवाये यह 'जनतंत्र' सो ही कम। मन में बार-बार यह सवाल उठता है कि सभी की आँख के सामने बसती रहती हैं झुग्गी, तो उन्हें बसने ही क्यों दिया जाता है। सवाल यह है कि अगर झुग्गियाँ पास में नहीं बसेंगी तो 'सस्ता सेवक' कैसे मिलेगा। मुश्किल तब शुरू होती है जब ये 'सस्ता सेवक' नागरिक अधिकार और नागरिक सुविधा माँगने लगते हैं और उन्हें हासिल करने के लिए 'वोट बैंक' में बदलने लगते हैं! ये 'स्थानीय कवि' असल में 'झुग्गी कवि' होते हैं। भाषा-विज्ञानियों और अर्थ-मर्मज्ञों का शातिर इशारा 'गोष्ठी' के 'गो' की तरफ हो सकता है। मुश्किल यह कि झुग्गी कवि न हों तो दिनोदिन बीरान होती 'गोष्ठियों' में 'गो' कहाँ से आएँ और 'गो' ही न आएँ तो 'गोष्ठी' कैसे हो!

सार्त्र ने रीडर और पब्लिक का भेद समझते हुए रीडर के होने के बाबजूद पब्लिक के न होने का दुख प्रकट किया था। आज जब साहित्य के, कम से कम देवनागरी हिंदी साहित्य— खासकर कविता— के, पाठकों का ही भारी टोटा हो गया है, ये 'स्थानीय कवि' कविता के 'पबिल्क' होने का कितना बड़ा आश्वासन रचते हैं, इसे हर 'बड़ा कवि' जानता है। कविता में 'स्थानीय कवि' की यही रचनात्मकता है और यह कम नहीं है। 'स्थानीय कवि', अर्थात कविता का 'पब्लिक'। 'स्थानीय' होना क्या सचमुच छोटा होना है! नागार्जुन के शब्दों को याद करें तो इस तरह के 'खद्योत कवि' को 'बेचारे' कहना ठीक नहीं है, अजी यह 'स्थानीय कवि' तो 'ज्योति-कीट' हैं, जो जान भर रहे हैं जंगल में!